

हिंदी और उर्दू : आखिर नाम में क्या रखा है

अतहर फ़ारूकी

arouqui@yahoo.com

जेएनयू से पी.एच.डी. के बाद अँग्रेजी में लेखन, अनुवाद एवं संपादन। अनेक अंतरराष्ट्रीय प्रकाशन।

शम्सुर्रहमान फ़ारूकी साहब की किताब 'उर्दू का इब्तिदाई ज़माना' पूरी तरह से उर्दू के इतिहास से संबंधित कई भ्रांतियों और लगभग हर क्रिस्म की धुंध को साफ़ कर चुकी है। फिर भी दुख की बात है कि इसके उर्दू प्रकाशन के करीब-करीब बीस साल बाद भी, हिंदी और उर्दू के बड़े-बड़े जानकारों ने इसे ठीक से पढ़ा ही नहीं है। इनमें वे लोग भी हैं जो खुद को इस भाषा का जानकार मानने पर ख़ासा गर्व करते हैं। ये सभी विद्वान अभी भी वही कुछ दोहरा रहे हैं जिसकी गूँज उनके चालीस और पचास बरस पुराने लेखों में मिल चुकी है। इस स्थिति पर अब अफ़सोस इसलिए भी नहीं किया जा सकता क्योंकि उर्दू दुनिया में पढ़ने-लिखने की रिवायत ख़त्म हुए ज़माना हो गया है। इसके माने हुए संरक्षक जो अब विश्वविद्यालयों के उर्दू विभागों या फिर उनसे संबद्ध कॉलेजों में उर्दू ज़बान और साहित्य का पाठ पढ़ा रहे हैं, उन्हें फ़ारूकी साहब ने सन् 1993 में ही जाहिलों की चौथी नस्ल कह दिया था।

इससे भी ज़्यादा अफ़सोस की बात यह है कि उर्दू ज़बान की तरक्की के बारे में हमारे भाषा के जानकार आज भी उन ही ग़लतफ़हमियों को तूल दे रहे हैं जो बरसों पहले अलग-अलग वजहों से प्रचलित हो गई थीं और इस ज़बान और इसके अदब के लिए निहायत नुक़सानदेह साबित हुईं। इनमें सबसे बड़ी ग़लतफ़हमी उर्दू को लश्करी ज़बान करार देना है। 'उर्दू का इब्तिदाई ज़माना'[1] सबसे पहले सन् 2000 में प्रकाशित

हुई। इस पहले संस्करण के अलावा, हिंदुस्तान और पाकिस्तान, दोनों ही मुल्कों से इसके हिंदी और उर्दू में असली और जाली संस्करण भी छप चुके हैं। अँग्रेज़ी में इसका पहला संस्करण ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी देहली ने सन् 2001 में प्रकाशित किया था। इसका उर्दू तर्जुमा चूँकि ख़ुद फ़ारूकी साहब ने ही किया है, इसलिए, इसे उर्दू में पढ़ते हुए कहीं भी तर्जुमे का गुमान नहीं होता। असल में किताब मूल रूप से अँग्रेज़ी में ही लिखी गयी थी, मगर इसका उर्दू अनुवाद अँग्रेज़ी से पहले फ़ौरन ही छप गया। अँग्रेज़ी संस्करण कुछ कारणों से इसके एक साल बाद सन् 2001 में सामने आया। हिंदी अनुवाद[2] रहील सिद्दीक़ी और गोविंद प्रसाद ने किया है जो सन् 2007 में छपा। लेकिन हिंदी के इल्मी हल्कों के रवैये से ऐसा लगता है कि वहाँ अब तक इस किताब की ख़बर ही नहीं है। हालाँकि, इस किताब ने उर्दू के इतिहास और उसकी तरक्की से संबंधित, उन्नीसवीं सदी के आख़िर में आम हो जाने वाली लगभग हरेक ग़लतफ़हमी ख़त्म तो की पर चूँकि इतनी अहम किताब की तरफ़ जब ख़ुद उर्दू वालों का रवैया ही शायराना रहा, तो फिर हिंदी वालों की बेख़बरी पर अफ़सोस करने का क्या मतलब है? इस किताब और इसमें दर्ज बातों का चूँकि अब तक किसी ने कोई विरोध नहीं किया है, इसलिए, जब तक कोई और बड़ा काम, फ़ारूकी साहब द्वारा दिए गये तर्कों पर नयी रौशनी नहीं डालता है, तब तक ‘उर्दू का इब्तिदाई ज़माना’ इस ज़बान – जिसे हम आज उर्दू कहते हैं, पर जिसे सन् 1850 तक हिंदी ही कहा जाता था – और उसके साहित्य के संदर्भ में पूरी तरह से ‘हफ़्तें आख़िर’ की हैसियत रखेगी।

फ़ारूकी साहब के शोध का सार कुछ इस तरह है:

‘उर्दू’ शब्द का ज़बान के नाम के तौर पर लश्कर या फ़ौज से कुछ भी लेना-देना नहीं है, इसलिए भाषा विज्ञान के तौर पर उर्दू को लश्करी ज़बान कहना ग़लत है।

दूसरे अर्थों के अलावा उर्दू लफ़्ज़ शाहजहानाबाद यानी फ़सील (दीवार) बंद (दिल्ली) शहर के अर्थ में बहुत देर तक चलन में रहा। जिस ज़बान को आज हम उर्दू कहते हैं, उसके लिए यह लफ़्ज़ उस वक़्त लोकप्रिय होना शुरु हुआ जब मुग़लिया सल्तनत का चिराग़ बुझ रहा था, बल्कि बुझ चुका था। इसलिए यह दोहराना एक बार फिर ज़रूरी है कि ज़बान के तौर पर इस लफ़्ज़ के चलन में आने से पहले इसे दिल्ली शहर के अर्थ में उपयोग किया जाता था।

ज़बान के तौर पर आज उर्दू कही जाने वाली भाषा के लिए इतिहास के अलग-अलग दौर में जो कई नाम चलन में रहे, उनमें उर्दू सबसे बाद में इस्तेमाल होने वाला नाम है। सबसे पहले और देर तक इस्तेमाल होने वाला नाम हिंदी है जो उर्दू के चलन में आने के बाद बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों तक इस्तेमाल होता रहा। हिंदी, चूँकि ज़बान के अलावा हिंदुस्तान के बाशिंदों के लिए ग़ैर-मुल्कियों के ज़रिए सबसे ज़्यादा इस्तेमाल होने वाला लफ़्ज़ भी था, इसलिए स्वाभाविक है कि इसका इतिहास सबसे पुराना है और इसके इस्तेमाल का ज़माना सबसे लम्बा है।

हिंदी और आधुनिक हिंदी दो अलग ज़बानें हैं। हिंदी, उर्दू का पुराना नाम है जबकि आधुनिक हिंदी एक सियासी ज़बान है, जिसे कुछ कट्टर हिंदुओं ने अँग्रेज़ों की मदद से उन्नीसवीं सदी में बनाना शुरु किया।

फ़ारूकी साहब हिंदी की इस विरासत को हाथ से जाने देने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं हैं। एक ऐसी विरासत, जो आज की उर्दू ज़बान के लिए एक मज़बूत रहनुमा बनी और सैकड़ों बरसों के भाषा-सम्बंधी और तहज़ीबी रुझानों के बेहतरीन तत्वों को निचोड़ कर हिंदुस्तान की साझा रिवायत बनाई। इसे आम बोल-चाल की ज़बान में हिंदुस्तानियत भी कहा जा सकता है। इस बारे में अब किसी ग़लतफ़हमी की गुंजाइश नहीं कि फ़ारूकी साहब जब भी 'हिंदी' लफ़्ज़ पुराने संदर्भ में इस्तेमाल करते हैं, तो उनका मतलब आधुनिक हिंदी बिल्कुल नहीं होता।

उर्दू के लिए जो नाम इस्तेमाल हुए उनमें हिंदी सबसे अहम नाम है। हिंदी, हिंदवी, गुजरी, दकनी, रेख्ता वग़ैरह की फ़ेहरिस्त में उर्दू की गिनती इस क्रम में सबसे बाद में होती है।

उर्दू लफ़्ज़ के आम होने के बाद भी बीसवीं सदी की शुरुआती दहाइयों में हिंदी लफ़्ज़ इस ज़बान के लिए चलता रहा जिसे अब उर्दू कहा जाता है। इसकी मिसाल फ़ारूकी साहब इक़बाल की उस तहरीर से देते हैं जो उन्होंने 'असरार-ए-ख़ुदी' (सन् 1915 में प्रकाशित) के अंतर्गत लिखी और ज़बान के लिए उर्दू के बजाए हिंदी का इस्तेमाल किया।

उर्दू के जो मानी तुर्की में हैं हमें उससे कुछ मतलब नहीं है। वैसे तुर्की में भी उर्दू के मानी लश्कर के नहीं हैं बल्कि वहाँ यह शब्द 'जिम्मे गफ़ीर' (भीड़ या समूह) के लिए इस्तेमाल किया जाता है। इसी 'जिम्मे गफ़ीर' को अंग्रेज़ी में 'होर्ड' कहा जाता है; यानी बेइतिज़ाम क्रिस्म की भीड़। बाद में भारत में यह लफ़्ज़ बादशाही या शाही कैम्प के अर्थ में इस्तेमाल होने लगा। बादशाह का कैम्प या शाही कैम्प और लश्कर दो बिल्कुल अलग चीज़ें हैं। इसी फ़र्क को नज़रंदाज़ करने का नतीजा हुआ कि उर्दू के नाम से जुड़ी हुई जो गुमराही फैलनी शुरु हुई, उसने आख़िरकार इस ज़बान की पूरी तारीख़ को ना सिर्फ़ बिगाड़ा, बल्कि दाग़दार भी कर दिया। इस बात की पक्की सम्भावना है कि शाही कैम्प के अर्थ में लफ़्ज़े उर्दू अकबर के ज़माने में प्रचलित होना शुरु हुआ। उस वक़्त कैम्प का मतलब यह नहीं होता था कि वह आज लगा और कल उखड़ गया, या बादशाह आया और चला गया। कैम्प की समाजियत ऐसी थी कि कैम्प में असल लोग यानी बादशाह, सरकारी अफ़सर और उसके अमले के लोग अगर एक लाख हैं, तो उनके अलावा नौ लाख आदमी और होंगे जिनको हाली-मवाली कहते थे। यानी भिश्ती, जुलाहे, धोबी, नाई, ज़रगर[3], गल्ले बेचने वाले, गोश्त बेचने वाले और नानबाई वग़ैरह जिन भी पेशेवर लोगों की ज़रूरत होती थी, वे सब कैम्प के साथ-साथ ही चलते थे। यह स्वाभाविक बात भी है कि जब इतना बड़ा कैम्प होगा तो इतना साज़ो-सामान और इतिज़ाम तो रहेगा ही। असल में यही वह कैम्प था जिसे लोग उर्दू कहा करते थे। यानी हिंदुस्तान में बादशाह का कैम्प या वह जगह जहाँ बादशाह रहता था उर्दू कहलाती थी। अकबर पहले तो आगरे में रहे फिर उन्होंने फ़तहपुर सीकरी का निर्माण किया और कुछ दिनों तक वहाँ रहे। यह मामला अभी भी शोध का विषय है कि अकबर ने फ़तहपुर सीकरी को क्यों छोड़ा? कुछ माने हुए इतिहासकारों की राय में अकबर ने पानी की कमी की वजह से इस शहर को ख़ैरबाद कहा। अकबर किसी एक जगह नहीं रुके। कश्मीर गये, लाहौर गये, लेकिन लाहौर में उनका पड़ाव लम्बा था। अकबर का तरीक़ा यह था कि वे जहाँ-जहाँ जाते थे वहाँ-वहाँ शाही कैम्प का पूरा सामान मसलन लकड़ी, फ़र्श, दीवार, दफ़्तर, पूरे काग़ज़ात, रौशनी का इतिज़ाम, पूरी फ़ौज – उन सबका इतिज़ाम इस तरह करते थे कि हर चीज़ दो-दो होती थीं। एक तो उस जगह के लिये जहाँ बादशाह ठहरा है और दूसरी बादशाह के अगले पड़ाव पर भेज दी जाती थीं कि बादशाह जब वहाँ पहुँचे तो उसको वहाँ किसी चीज़ के लिये इतिज़ाम नहीं करना पड़े। इस जगह को ये लोग शायरी

में उर्दू कहने लगे। यह कोई ऐसा शहर तो होता नहीं था जिसे पाया-ए-तख्त या राजधानी कहा जाए। जहाँ से बादशाह राज करता है, अपने मजलिस में है और तख्त पर बैठता है, दरबार करता है वह उर्दू कहलाने लगी। मगर बादशाह के जुलूस की जगह और उसका लश्कर यानी बादशाह का कैम्प दो बिल्कुल अलग चीज़ें हैं।

सन् 1638 में शाहजहाँ ने शाहजहानाबाद की तामीर का काम भोजला नाम की पहाड़ी पर शुरु किया जो सन् 1648 में पूरा हुआ। अब यह इलाक़ा पहाड़ी भोजला के नाम से दीवार बंद शहर के एक छोटे इलाक़े तक सीमित रह गया। इसके बाद ही यह पक्का हुआ कि अब मुग़ल बादशाह हमेशा यहीं, यानी लाल क़िले में रहा करेंगे और शाहजहानाबाद उनकी प्रजा और उन लोगों की रिहाइश के तौर पर इस्तेमाल होगा जो कैम्प के साथ अलग-अलग कामों के लिए चलते थे। इससे पहले जहाँगीर घूमते-फिरते रहे थे और उनका इंतिक़ाल लाहौर में हुआ। ऐसा लगता है कि अकबर और जहाँगीर, इन दोनों बादशाहों के ज़माने में कोई स्थिर राजधानी नहीं थी। अगर थी तो आगरा थी, जिसमें ये लोग बहुत कम रहे। जैसा कि अर्ज़ किया गया है, बादशाह के शिविर के अर्थ में उर्दू लफ़्ज़ का इस्तेमाल तो अकबर के ज़माने में शुरु हुआ। मगर वह आम शाहजहानाबाद के बनने के बाद कुछ इस तरह हुआ कि शाहजहानाबाद को ही लोग शायरी में उर्दू और उर्दू-ए-मुअल्ला कहने लगे। यानी उस वक़्त उर्दू का मतलब इस दीवार बंद शहर के अलावा और कुछ नहीं था जिसे शाहजहाँ ने बनवाया था।

फ़ारूक़ी साहब ने लिखा है कि इंशाउल्लाह ख़ाँ इंशा की किताब, 'दरिया-ए-लताफ़त' के लिखने की शुरुआत सन् 1794 या 1795 के करीब हुई होगी। पर यह पूरी सन् 1807 में हुई। इसमें इंशा और क़तील ने हर जगह शाहजहानाबाद यानी दिल्ली के अर्थ में उर्दू लफ़्ज़ इस्तेमाल किया है। लोगों ने इस किताब को लगभग नहीं के बराबर पढ़ा है क्योंकि इस किताब की फ़ारसी मुश्किल है। यह किताब एक ही बार सन् 1850 में छपी थी और अब यह आसानी से मिलती भी नहीं है। छपने के वक़्त इस किताब के लेख में जो बहुत सी ग़लतियाँ रह गई थीं, वे कभी ठीक नहीं हो सकीं। अंजुमन तरक़्की-ए-उर्दू (हिंद) ने सन् 1946 के आसपास पण्डित दत्तात्रेय कैफ़ी से इसका उर्दू तर्जुमा करवाया। इस काम में पंडित कैफ़ी ने मेहनत तो ख़ूब

की, फिर भी इसमें कुछ कमियाँ रह गईं। मूल किताब को अगर बीसवीं सदी में कुछ लोगों ने पढ़ा भी होगा तो कभी इस पर गौर नहीं किया कि यहाँ 'उर्दू' का अर्थ क्या है और जिन लोगों ने उन्नीसवीं सदी में इसे पढ़ा, उन्होंने तो स्वाभावतन उर्दू को शाहजहानाबाद का पर्याय माना, क्योंकि उस समय यह शब्द इसी अर्थ से चलन में था।

इससे पहले जो किताब बहुत ज़्यादा लोकप्रिय थी, वह थी मीर अम्मन की 'बाग़-ओ-बहार'। इसकी शुरुआत ही में मीर अम्मन ने साफ़-साफ़ तीन-चार जगह लिखा है कि मैंने यह कहानी उर्दू ज़बान में लिखी है। यानी उस ज़बान में जिसे शाहजहानाबाद के लोग, जिनमें औरतें, बूढ़े, बच्चे, हिंदू, मुसलमान सब शामिल हैं। यहाँ 'उर्दू' को 'शाहजहानाबाद' के अर्थ में लेने में किसी भी ग़लतफ़हमी की गुंजाइश नहीं बचती है। लेकिन हम लोगों ने यहाँ (और हर उस जगह जहाँ 'ज़बाने उर्दू' या 'उर्दू की ज़बान' लिखा था) आज तक इस बारीकी को नहीं पकड़ा और अगर पकड़ा भी होगा तो उसको ना तो अपने शागिर्दों को बताया और ना ही अपनी किसी तहरीर में इसका ज़िक्र किया। उर्दू के उस्ताद तो सिर्फ़ यही बताते रहे कि 'उर्दू' के मानी हैं 'लश्कर'। असल में तो यह पूरा फ़िक्ररा 'ज़बान-ए-उर्दू-मुअल्ला-ए-शाहजहानाबाद' था, छोटा होते-होते सिर्फ़ 'उर्दू' रह गया, और वह भी शायद इस वजह से कि हम लोगों ने 'ज़बान-ए-उर्दू' को फ़ारसी के लहजे में समझा, यानी 'वह ज़बान जिसका नाम उर्दू है'। फ़ारसी में बेशक इस तरह बोलते हैं, मसलन ज़बान-ए-अंग्रेज़ी यानी वह ज़बान जिसका नाम अंग्रेज़ी है, या ज़बान-ए-फ़ारसी – वह ज़बान जिसका नाम फ़ारसी है, या ज़बान-ए-पंजाबी – वह ज़बान जिसका नाम पंजाबी है, वग़ैरह। लेकिन उर्दू का लहजा अलग है। उर्दू में हमेशा, 'अंग्रेज़ी/इंग्लिस्तान की ज़बान, फ़ारसी/फ़ारस या ईरान की ज़बान', पंजाबी या पंजाब की ज़बान' वग़ैरह बोलते हैं।

प्रोफ़ेसर मसूद हुसैन ख़ाँ ने अपने पी।एच।डी। के शोध के लिए बीसवीं सदी की चौथी दहाई में अलीगढ़ मुस्लिम युनीवर्सिटी के उर्दू विभाग में जो काम किया, बाद में 'मुक़द्दमा-ए-तारीख़-ए-ज़बान-ए-उर्दू' के नाम से छपा और उसे बहुत शोहरत मिली। मसूद हुसैन साहब के शोध के प्रकाशित होने के कोई सौ बरस पहले तक 'उर्दू' लफ़्ज़ आज के शहर दिल्ली और उस वक़्त के शहर शाहजहानाबाद के लिये इस्तेमाल में था मगर ताज़्जुब की बात है कि मसूद साहब की किताब में इसका कहीं ज़िक्र तक नहीं है। उर्दू के किसी भी बड़े

जानने वाले या शोधकर्ता ने इस अनदेखी की तरफ ध्यान नहीं दिया। 'उर्दू का इब्तिदाई ज़माना' के सामने आने के बाद भी, आज तक यह 80 साल पुराना काम उर्दू ज़बान की तारीख का 'हफ़े आख़िर' समझा जाता रहा है।

इस बात को विस्तार से दोहराना ज़रूरी है कि आहिस्ता-आहिस्ता उर्दू लफ़्ज़ का ज़बान के नाम की हैसियत से इस्तेमाल 'ज़बान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला-ए-शाहजहानाबाद' से घट कर 'ज़बान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला और फिर 'ज़बान-ए-उर्दू' यानी शाहजहानाबाद की ज़बान हुआ और आख़िर में केवल उर्दू रह गया। जब फ़ारसी में 'ज़बान-ए-उर्दू' कहा जाता है तो उसका एक मतलब होता है, 'उर्दू की ज़बान' यानी शाहजहानाबाद की ज़बान'। पर इसका एक और अर्थ भी है: वह ज़बान जिसका नाम उर्दू है। उदाहरण के लिए एक और जुमला देखते चलें – 'शाह-ए-देहली' का एक मतलब तो है देहली का बादशाह, पर दूसरा, वह बादशाह जिसका नाम देहली है। उर्दू व्याकरण के इस तरीके ने उर्दू वालों को ही बहुत परेशान किया है।

सन् 1786 में गिल्क्रिस्ट ने लिखा है कि यह ज़बान जिसको आम तौर पर लोग रेख़्ता कहते हैं, वह उर्दू भी कहलाती है, यानी 'शाही दरबार की ज़बान'। फ़ारूकी साहब कहते हैं कि ज़बान के नाम के तौर पर उर्दू लफ़्ज़ का यही सबसे पुराना इस्तेमाल है। इससे पहले यह लफ़्ज़ ज़बान के नाम के तौर पर सामने नहीं आया। इस सिलसिले में उन्होंने एक गुफ़्तगू में मुसहफ़ी का शेर नक़ल किया है:

अलबत्ता मुसहफ़ी को है रेख़्ते में दावा

यानी के है ज़बान दाँ उर्दू की वो ज़बान का

इससे यह बात साफ़ हो जाती है कि 'रेख़्ते' का मतलब है वह ज़बान जिसमें मुसहफ़ी लिख रहे हैं और यह उस जगह यानी दिल्ली की ज़बान है। मुसहफ़ी का यह शेर सन् 1770 या 1780 के आसपास का है। उनका एक और शेर जिसको नूरुल लुगात ने नक़ल किया है, लेकिन जो फ़ारूकी साहब को मुसहफ़ी के किसी दीवान में नहीं मिला, यह है:

ख़ुदा रखे ज़बाँ हमने सुनी है मीर-ओ-मिर्ज़ा की

कहें किस मुँह से हम ऐ मुसहफ़ी उर्दू हमारी है

मिर्जा मुहम्मद रफ़ी सौदा का इंतिक़ाल सन् 1781 में हुआ। मीर तक़ी मीर सन् 1810 में चले गये। इसलिये यह मान लिया गया कि 'ख़ुदा रखे' से मुराद यह है कि मीर और सौदा उस वक़्त ज़िंदा थे, और यह शेर सन् 1781 से पहले कहा गया होगा। लेकिन इस शेर का मुसहफ़ी की कुल्लियात में नहीं मिलना इसकी सनद को बहुत संदिग्ध बना देता है।

जैसा कि ऊपर ज़िक्र किया गया है, उर्दू का भाषा के नाम की हैसियत से पहला ज़िक्र सन् 1786 में गिल्किस्ट करते हैं। मीर और सौदा की कुल्लियात में उर्दू लफ़्ज़ ज़बान के नाम के तौर पर नहीं मिलता। मुसहफ़ी के दो-तीन शेरों में उर्दू का लफ़्ज़ आता ज़रूर है, लेकिन जैसा कि हमने ऊपर देखा है, यह कहना मुश्किल है कि मुसहफ़ी ने यह लफ़्ज़ ज़बान के नाम के लिए इस्तेमाल किया है। उदाहरण के लिए मुसहफ़ी का एक शेर और देखें:

ये रेख़्ते का जो उर्दू है मुसहफ़ी इसमें

नयी निकाली हैं बातें हज़ार हमने तो

ज़ाहिर है, रेख़्ते की मुराद उर्दू से है, यानी रेख़्ते का शहर जिसका नाम उर्दू है। या ज़्यादा से ज़्यादा इसे 'रेख़्ते के बाज़ार' वगैरह के अर्थ में देखा जा सकता है। मुसहफ़ी का इंतिक़ाल सन् 1824 में हुआ। सम्भव है कि सन् 1790 के आसपास कुछ लोगों ने इस ज़बान को उर्दू कहना शुरू कर दिया हो, मगर यह आम बात नहीं थी। इसका एक सबूत यह भी है कि ग़ालिब के उर्दू कलाम में उर्दू लफ़्ज़ ज़बान के नाम की हैसियत से कहीं भी नहीं आता है। उनके उर्दू के ख़त सन् 1850 के आसपास शुरू होते हैं और उनमें भी ज़बान के मतलब में उर्दू का इस्तेमाल नहीं हुआ है। हालाँकि एक ख़त में वे ये भी लिखते हैं: "अलबत्ता मेरा उर्दू औरों से फ़सीह[4] होगा", मगर यहाँ ज़रूरी बात यह है कि हमारे यहाँ भाषाओं के नाम स्त्रीलिंग में होते हैं। ग़ालिब इस बात से वाकिफ़ नहीं हों, ऐसा मुम्किन नहीं, इसलिये, सवाल सिर्फ़ यह है कि ग़ालिब के इस जुमले का मतलब क्या है? अगर हम यह मान भी लें कि यहाँ ग़ालिब ने ज़बान के मानी में 'उर्दू' इस्तेमाल किया है तो यह इस्तेमाल भी सिर्फ़ एक ही जगह मिलता है। ग़ालिब हमेशा हिंदी या रेख़्ता कहते हैं। गिल्किस्ट सन् 1786 में इस लफ़्ज़ को ज़बान के मानी में इस्तेमाल कर चुके थे मगर इसके बाद आने वाले चालीस-पचास

बरस तक भी इस लफ़्ज़ ने ज़बान के मानी में रिवाज नहीं पाया। हम कह सकते हैं कि किसी भी बड़े शायर ने अठारवीं सदी या उन्नीसवीं सदी के पहले भाग में उर्दू का लफ़्ज़ ज़बान के मानी में इस्तेमाल नहीं किया।

यह बात लगभग निश्चित है कि आम बोलचाल में सन् 1850 तक भी उर्दू लफ़्ज़ ज़बान के मानी में इस्तेमाल नहीं होता था, लेकिन यह उस वक़्त अपरिचित भी नहीं था। फ़ारूकी साहब दावे के साथ तो नहीं लेकिन ख़ासे यक़ीन से यह कहते हैं कि सन् 1850 तक भी यह लफ़्ज़ भाषा के अर्थ में चलन में नहीं आया था। ग़ालिब ने फ़ारसी में एक जगह अपने किसी विरोधी को लिखा है:

फ़ारसी बीं ता ब बीनी नक्शहा ए रंग-रंग
बा गुज़र अज़ मज्मूआ-ए-उर्दू के बे रंगे मनस्त[5]

यह शेर कब कहा गया, मालूम नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि ज़ौक के जवाब में कहा होगा। मोमिन के बारे में जिनका इंतिक़ाल सन् 1852 में हुआ, ग़ालिब इस तरह का शेर नहीं कह सकते थे, क्योंकि एक ज़माना मोमिन की फ़ारसी का कायल था। ज़ौक सन् 1854 में चले गये। इसलिये तय है कि यह शेर अगर ज़ौक के जवाब में कहा गया तो सन् 1854 से पहले का होगा। ग़ालिब ने इस शेर को गुस्से में कहा है लेकिन यह तहक़ीक़ तलब है कि यह शेर ग़ालिब ने किसके लिये कहा है? इसमें भी मज़ा यह है कि बेरंग का मतलब ख़ाका होता है जिसे चित्रकार पहले बनाता है और बाद में रंग भरता है, इसीलिये, पहले मिसरे में नक्शहा ए रंग-रंग कहा है। अब तो ज़्यादातर लोग यही समझते हैं कि बेरंग होना वह है जिसमें कोई रंग ना हो।

अहम सवाल यह है कि हिंदी लफ़्ज़ इस ज़बान के लिये जो अब उर्दू कहलाती है, कितने ज़माने तक चलन में रहा? इसका कोई सटीक जवाब नहीं है मगर यह सच है कि इस ज़बान के लिये, जिसका आख़िरी नाम उर्दू पड़ा, इसके लिये हिंदी बहुत देर तक आम था। दिलचस्प बात यह है कि उर्दू के लिये हिंदी के इस्तेमाल की मिसालें बीसवीं सदी में भी मिल जाती हैं। अठारवीं सदी में तो लोग ज़बान के मानी में 'हिंदी' का इस्तेमाल करते ही थे। उन्नीसवीं सदी में ग़ालिब भी हिंदी को इन मानी में ही इस्तेमाल कर रहे हैं जो अब उर्दू

के लिये ख़ास हो गये हैं। उन्होंने ये भी कहा कि “मेरा जब दिल बहुत घबराता है तो गाह-गाह हिंदी का मतला[6] पढ़ देता हूँ।”

हिंदी के बहुत मतलब हैं। बुनियादी अर्थ तो यह है कि बाहर से आने वालों ने हिंदुस्तानी क्रौमियत के लोगों के लिये हिंदी लफ़्ज़ का इस्तेमाल किया, क्योंकि हिंदुस्तान का पुराना नाम हिंद था। कुछ ग़ैर-मुल्कियों के लिये तो हर हिंदुस्तानी ज़बान हिंदी थी। बंगाल के लिये भी हिंदी का इस्तेमाल मिलता है। किसी के लिये पंजाबी भी हिंदी है। किसी ने तमिल को हिंदी कहा है। किसी के लिये ब्रज भाषा भी हिंदी है। क्रिस्सा मुस्वत्सर कि हिंदी लफ़्ज़ का इस्तेमाल, आम तौर पर ग़ैर-मुल्क या ग़ैर-ज़बान के लोग हिंदुस्तान में सभी रहने वालों और यहाँ की सभी ज़बानों के लिए करते थे। आहिस्ता-आहिस्ता यह इस्तेमाल कम हो गया लेकिन ग़ैर-मुल्कियों की हिंदुस्तान आमद के बाद यह लफ़्ज़ बहुत आम था।

रज़ा लाएब्रेरी, रामपुर में ‘पद्मावत’ की एक प्रति है, जो फ़ारूकी साहब के अनुसार फ़ारसी लिपि में है। इसमें लिखा है कि यह हिंदी ज़बान की शायरी है जो फ़ारसी लिपि में है। ज़ाहिर है कि यह ज़बान, उस ज़बान से बिल्कुल अलग है जो आज आम तौर पर हिंदी यानी आधुनिक हिंदी है। हकीकत यह है कि इस किताब की ज़बान अवधी है। तमाम उत्तर भारत की ज़बानों को पढ़ने और उन्हें स्वाभाविक रूप से आधुनिक हिंदी का हिस्सा करार देने की साज़िश में जिन ज़बानों को हिंदी की अलग-अलग शक्तों से समझाया जाता है उनमें अवधी भी शामिल है, जबकि वह खड़ी बोली से बिल्कुल अलग ज़बान है। यानी हिंदुस्तानी भी हिंदुस्तान की ज़बानों के लिये हिंदी का लफ़्ज़ इस्तेमाल करते थे। अँग्रेज़ों ने भी इसी अर्थ में – यानी भारतीय भाषाओं के अर्थ में – जगह-जगह उसे हिंदी लिखा है। फिर धीरे-धीरे यह हुआ कि इस ज़बान को जिसे आज उर्दू कहा जाता है जब वह आम होने लगी तो कई लोगों ने उसे हिंदी या देहलवी कहना शुरू कर दिया।

जमील जालबी साहब को शक है कि मसूद साद सलमान ने बारहवीं सदी में एक दीवान हिंदी में लिखा तो हिंदी से मुराद पंजाबी रही होगी। इसका जवाब फ़ारूकी साहब ने यूँ दिया है कि ‘लुबाबुल अलबाब’ इस ज़िक्र के सौ बरस से भी कम अर्से में अमीर ख़ुसरो मसूवी ‘नौह सिपहर’ लिखते हैं, जिसमें हिंदुस्तानी

ज़बानों का ज़िक्र करते हुए वे साफ़ लफ़्ज़ों में लिख रहे हैं कि पंजाबी भी एक ज़बान है। लिहाज़ा जब पंजाबी के नाम से उस ज़माने में एक ज़बान मौजूद थी तो फिर उसको हिंदी कैसे कहा जाएगा? पंजाबी को हिंदी तो वही कहेगा जो हिंदुस्तान का नहीं हो। फ़ारूकी साहब यही समझते हैं कि मसूद साद सलमान ने जो कुछ भी कहा होगा वह हिंदी यानी आज की परिभाषा के हिसाब से उर्दू में होगा। अहम बात मगर यह है कि मसूद साद सलमान का दीवान कहीं मिलता नहीं है। इस ख़याली बात पर ज़्यादा तवज्जो देने की ज़रूरत नहीं कि मुहम्मद ऊफ़ी का 'लुबाबुल अलबाब' में हिंदी से मतलब पंजाबी था। ख़ुसरो ने लिखा है कि मैंने दोस्तों के मनोरंजन के वास्ते हिंदी में बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने जो भी हिंदी में कहा वह भी अब कहीं मिलता नहीं है, पर उनके बयान से यह बात साफ़ हो जाती है कि उन्होंने हिंदी ज़बान में शायरी की है। हिंदी में ख़ुसरो के मुश्किल से कहीं-कहीं सिर्फ़ दो-चार शेर ही मिलते हैं, बाक़ी तमाम कलाम ऊपर से मिलाए हुए नहीं तो संदिग्ध ज़रूर हैं।

अमीर मीनाई जगह-जगह लिखते हैं कि हिंदी में ऐसा होता है, हिंदी में वैसा होता है। अमीर मीनाई के यहाँ हिंदी के मानी हैं कोई भी वह ज़बान जो हिंदुस्तान में, ख़ास तौर पर दिल्ली में बोली जाती है। अमीर मीनाई का इंतक़ाल सन् 1900 में हुआ। उन्होंने अपने ख़तों में जगह-जगह उस ज़बान को जिसे वे इस्तेमाल कर रहे हैं मिसालों के साथ हिंदी कहा है। मिसालें व्याकरण से अलग हैं, जैसे वे लिखते हैं, कि यह फ़ारसी लफ़्ज़ है, इसे आप हिंदी लफ़्ज़ के साथ नहीं जोड़ सकते। अपने दलीलों की हिमायत में अमीर मीनाई ने मिसालें भी दी हैं। ज़ाहिर है कि 'हिंदी' से उनका वही मतलब है जिसे अब उर्दू कहा जाता है।

सन् 1914 के करीब इक़बाल मसज़वी 'असरार-ए-ख़ुदी' के बारे में लिख रहे हैं कि वे उसे हिंदी में इसलिये नहीं लिख रहे क्योंकि वह उन ख़यालों से सहमत नहीं हो सकती जिनका बयान मसज़वी में किया गया है। ज़ाहिर है कि इक़बाल हिंदी इसी भाषा के अर्थ में लिख रहे हैं जिसके लिये सन् 1915 तक उर्दू का इस्तेमाल भी आम हो चुका था। मगर इक़बाल फिर भी उसे हिंदी कह रहे हैं, यानी सन् 1915 तक भी आज की उर्दू ज़बान के लिये हिंदी का इस्तेमाल होता था।

फिर यह तो तय हो गया कि हिंदी लफ़्ज़ आम तौर पर दो चीज़ों के लिये इस्तेमाल होता था। एक तो उन चीज़ों के लिये जो हिंदुस्तान से ताल्लुक रखती हैं, ख़ास तौर पर यहाँ के रहने वाले और यहाँ की ज़बानें, यहाँ के खाने, यहाँ के लिबास; और एक उस ज़बान के लिये जो पहले देहलवी, हिंदी, हिंदवी कहलाती थी और बाद में उर्दू कहलाई। यह ज़बान जब दक्खिन पहुँची, तो पहले तो वहाँ इसे देहलवी, हिंदी और गुजरी कहा गया पर बाद में लोग दकनी कहने लगे। जिस ज़माने में उर्दू नाम रिवाज में आने लगा, उस वक़्त वे ज़बानें मसलन ब्रज, भोजपुरी, अवधी, मागधी और राजस्थानी वगैरह जिन्हें हिंदी राष्ट्रवादी केवल आधुनिक हिंदी की शक्तें कहते हैं, क़ायम हो चुकी थीं और उनमें ऊँचा साहित्य लिखा जा चुका था।

उन्नीसवीं सदी के आख़िर में जब एक नयी ज़बान के तौर पर आधुनिक हिंदी को शक़ल देने की मुहिम बहुत मज़बूत हो गई तो हिंदी के लिये उर्दू के नाम का रिवाज आम होने लगा। आधुनिक हिंदी का कोई इतिहास नहीं था, और अपना व्याकरण भी नहीं। इसलिये वह सब बनाया जाने लगा और अब तक बनाया जा रहा है। आधुनिक हिंदी के समर्थकों ने उस वक़्त यह कहा कि हिंदुस्तान के वे लोग जो उत्तर भारत की ज़बानें बोलते हैं, वे बड़ी हद तक ग़ैर-मुस्लिम हैं, इसलिये, उनके लिये यह ज़बान हिंदी होगी – यानी हिंदुओं की ज़बान। लिहाज़ा वे सब ज़बानें अजीब-ओ-ग़रीब तर्क से हिंदी कही जाने लगीं।

सन् 1800 तक ज़बान के मामले में कोई मसला पैदा नहीं हुआ था मगर जैसे ही सियासी मक़सदों से एक हिंदी नामक एक नयी ज़बान बनाने का मामला शुरु हुआ तो फिर ज़रूरत हुई एक ऐसी ज़बान की जिसे मुस्लिम कह कर उसका विरोध किया जा सके और आधुनिक हिंदी आसानी से स्थापित हो जाए। हालाँकि आधुनिक हिंदी के हामियों ने इस नयी ज़बान को हिंदी कहा, मगर वे अपने वैचारिक विरोधाभास की वजह से बीसवीं सदी की शुरुआती दहाइयों तक इसलिये उलझते रहे – बल्कि आज भी उलझते हैं – कि जिस ज़बान का विरोध वे उर्दू कह कर रहे थे, उसके लिये उस वक़्त भी हिंदी शब्द चलन में था। आधुनिक हिंदी की बनावट के साथ ही एक आंदोलन का शुरु होना ज़रूरी था जिसमें वे लोग, जिन्हें हिंदी वाले मुसलमान कह कर किनारे कर देना चाहते थे, इस पर ज़ोर देते थे कि हिंदी तो हमारी ज़बान है। सियासी मक़सदों से आप जिस ज़बान को बनाना चाहते हैं, उसे हिंदी के अलावा कोई और नाम दीजिये। मगर ऐसा नहीं हुआ

और मुसलमान, हिंदू कट्टरपंथियों की साज़िश के जाल में फँस गये और उन्होंने उर्दू के लिये मुस्लिम ज़बान होने की रट लगा ली। उन्होंने हिंदू क्रौम परस्तों से यह तक नहीं पूछा कि आप हिंदुस्तानी को भी अगर हिंदी कह रहे हैं तो उसका तर्क क्या है? सर सैयद अहमद खाँ ने कहीं यह नहीं लिखा कि यह तो वही ज़बान है जिसे हम बोल रहे हैं फिर उसे आप एक खास क्रिस्म की हिंदी क्यों बनाना चाहते हैं? एक नयी ज़बान को शकल देने के लिये अँग्रेज़ों ने हिंदी के पुराने रस्मे ख़त से अलग नागरी लिपि को बढ़ावा दिया और सन् 1901 में यूनाइटेड प्रोविंसिज़ में और बिहार में, और उससे कुछ पहले नागरी लिपि में लिखी जाने वाली 'हिंदी' को सरकारी मान्यता के साथ काम में लाया गया। उस वक़्त उर्दू के बड़े लोग शायरी कर रहे थे और उन्हें कुछ मालूम ही नहीं था कि सियासी दुनिया में ज़बान के लिहाज़ से क्या हो रहा है और किस तरह उर्दू को मुसलमानों की और हिंदी को एक नयी शकल में हिंदुओं की ज़बान के तौर पर क़ायम किया जा रहा है। उस वक़्त किसी ने यह बिल्कुल नहीं सोचा कि इस सबका अंजाम क्या होगा? यह अजीब बात है कि जैसी सियासी जागरुकता जो हमें मुसहफ़ी के पास मिलती है, वह बाद के लोगों में नदारद है। ग़ालिब सियासत से वाक़िफ़ तो हैं लेकिन वे अँग्रेज़ों से दबे हुए भी हैं और यही हाल मुहम्मद हुसैन आज़ाद का है।

लेकिन जब आधुनिक हिंदी के लिये नागरी लिपि का मसला यूनाइटेड प्रोविंसिज़ में आया और सर सैयद के करीबी लोगों ने यह कहना शुरू कर दिया कि हिंदी और उर्दू दो अलग-अलग ज़बानें हैं, तब जाकर वे चौंके और शोर मचाया और शिक्षा आयोग बनवाया। लेकिन उस वक़्त तक पानी सर से ऊपर जा चुका था।

भारतेंदु हरीशचंद्र को जब लोगों ने मजबूर किया कि अब आप उर्दू/फ़ारसी छोड़कर हिंदी में लिखें तो उन्होंने एक ख़त में लिखा कि इस ज़बान को जिसे आप हिंदी कह रहे हैं, पिंगल में ढालना मेरे लिये मुश्किल हो रहा है। पिंगल का उसूल ही कुछ और है। इसलिये आधुनिक हिंदी के हामियों ने पिंगल ही को बदल डाला और उसके साथ जो जुल्म किया वह आधुनिक हिंदी की शायरी के लिये लानत बन गया। जैसे 'जल' यानी 'पानी' को एक गुरु कहा गया, हालाँकि पिंगल के हिसाब से वहाँ तो 'जलअ' है, यानी ये दो लघु[7] हैं, एक गुरु नहीं। आज की जो हिंदी है उसमें आप 'जलअ' लिख कर 'जल' पढ़ रहे हैं और अगर उसे 'जलना' लीजिये तो वह तो और भी मुश्किल है क्योंकि पिंगल के मुताबिक़ वह तो 'जलाना' है। इस तरह से बहुत सी

चीज़ों को आधुनिक हिंदी में ऐसे ठूँसा गया कि उनकी शकल ही बदल गयी और आधुनिक हिंदी बहुत हास्यासपद हो गयी। अँग्रेज़ों ने तो बहुत सोचकर इस पर ज़ोर दिया कि जैसे भी हो आधुनिक हिंदी को इस लायक बनाया जाए कि उसमें बाक़ी उन्नत ज़बानों की तरह काव्य और गद्य हो सके और उर्दू से ना सिर्फ़ वह अलग हो जाए बल्कि ज़बान के नाम पर हिंदू और मुसलमान बँट जायें।

शिक्षा आयोग में भारतेंदु ने गवाही देते हुए कहा कि इस मुसलमानों की ज़बान में चक्कर यह है कि उर्दू वाले लिखते 'बीस' हैं और पढ़ते 'तीस' हैं। ये लोग जब क़र्ज़ देते हैं तो बीस लिखते हैं और बाद में उसको तीस पढ़ लेते हैं क्योंकि ये इस लिपि में नुक्ते तो लगाते नहीं हैं। यह लिपि बहुत ही ख़राब है, इसलिये, इसको बदलिये। हम तो वही लिखेंगे, जो हम बोलते हैं यानी नागरी लिपि ही मुनासिब है। इस पर सर सैयद का शायद कोई बयान नहीं है। भारतेंदु के ग़ैर-मुल्की लिपि वाले बयान का तो सर सैयद ने विरोध ज़रूर किया पर शिक्षा आयोग के सामने उनके बयान पर सर सैयद ख़ामोश रहे। जिस मज़बूती से आधुनिक हिंदी का विरोध होना चाहिए था, वह सर सैयद ने नहीं किया। उनका भाषा के प्रस्तावक के तौर पर और भाषा-विज्ञान से ही कोई सरोकार नहीं था। लेकिन उनके लोग, जैसे हाली, महमूद शीरानी, मुहम्मद हुसैन आज़ाद, शिबली और मौलवी चिराग़ अली वग़ैरह, इस काम को अच्छे से कर सकते थे। मगर ऐसा नहीं हुआ। इससे शक़ होता है कि जिन अँग्रेज़ों के कहने पर हिंदू क्रौमपरस्त आधुनिक हिंदी को बनाने में और उर्दू को मुसलमानों की ज़बान बना कर उसका विरोध कर रहे थे, उन्हीं अँग्रेज़ों के सर सैयद चूँकि सबसे बड़े हामी थे, इसलिये वे चुप रहे। हाफ़िज़ महमूद शीरानी ने यह सवाल सन् 1932 में उठाया कि इस ज़बान का नाम उर्दू कैसे पड़ गया जिसका मतलब लश्कर या फ़ौज से जुड़ा हुआ हो? यह ज़बान तो सदियों पुरानी है और 'उर्दू' लफ़्ज़ ज़बान के नाम की हैसियत से चलन में बहुत बाद में आया। शीरानी साहब ने सवाल उठा कर छोड़ दिया। बाद के लोगों का फ़र्ज़ था कि इसका जवाब तलाश करते, मगर आज तक यह काम नहीं हुआ है।



संदर्भिका

- [1] पहला संस्करण: मकतबा जामिआ लिमिटेड, नयी दिल्ली
- [2] उर्दू का आरम्भिक युग: राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, २००७
- [3] सुनार
- [4] श्रेष्ठ
- [5] फ़ारसी पढ़ो कि तुम तरह-तरह की चीज़ें देख सको, उर्दू के मज्मुए से गुज़र जाओ कि मेरी उर्दू बेरंगी है
- [6] ग़ज़ल का पहला शेर जिसके दोनों मिसरे सानुप्रास होते हैं
- [7] जिसका उच्चारण आसानी से किया जा सके

Citation: फ़ारूकी, अतहर (2023). हिंदी और उर्दू : आख़िर नाम में क्या रखा है, HindiTech: A Blind Double Peer Reviewed Bilingual Web-Research Journal, 14 (3), 10-24. URL: <https://hinditech.in/hindi-aur-urdu-aakhir-nam-men-kya-rakha-hai/>